भरतेश वैभव

—इन्द्रियजन्य सुखों पर मन के नियंत्रण की गौरव गाथा

समीक्षक : श्री सुमतप्रसाद जैन

आध्यात्मिक साहित्य के निर्माताओं में रत्नाकर वर्णी की अमर कृति 'भरतेश वैभव' को कर्नाटक साहित्य का 'गीतगोविन्द' स्वीकार किया जाता है। कन्नड़ प्रान्त के कण्ठहार तुल्य इस ग्रन्थ की मान्यता जैन समाज में वैसी ही है जैसे कि हिन्दू समाज में तुलसीकृत रामचरितमानस की। रत्नाकर वर्णी ने १५५१ ईस्वी में इस ग्रन्थरत्न का निर्माण किया था।

कन्नड़ भाषा के मध्यकालीन महाकवि रत्नाकर वर्णी का यह वृहद् काव्य 'भरतेश वैभव' आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के जीवन का एक प्रेरक एवं दिशाबोधक धर्मग्रन्थ रहा है। इस ऐतिहासिक एवं लोकप्रिय कृति ने उनके जीवन को एक दिव्य सन्देश एवं अध्यात्म का आलोक दिया है। अतः इस महाकाव्य में प्रतिपादित महान् जीवन-मूल्य आचार्य श्री के आचरण एवं साधना के विषय हैं। इस अनुपम रचना ने आचार्य श्री की चेतना को झंकृत किया था। इसीलिए आपके प्रवचनों में प्रायः भरतेश वैभव के काव्यांश की प्रमुखता रहती है। आचार्य श्री ने इस रचना के सन्देश को विश्वव्यापी बनाने के लिए इसका अनुवाद एवं सारतत्त्व स्वयं हिन्दी, मराठी एवं गुजराती में प्रस्तुत किया है और डॉ० श्यामसिंह जैन को प्रेरणा देकर इसका अनुवाद अंग्रेजी भाषा में भी करवाया है।

चक्रवर्ती भरत ने भारतवर्ष को सर्वप्रथम एक केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत संगठित कर राष्ट्रीय एकता का स्वप्न दिया था। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने भी एक धर्माचार्य के रूप में लगभग सम्पूर्ण भारतवर्ष की पदयात्रा करके जैन समाज को इस युग में संगठित करने का सफल प्रयास किया है। उन्होंने देश के एक महान् रचनात्मक सन्त के रूप में भाषागत एकता को स्थापित करते हुए दक्षिण भारत की भाषाओं के साहित्य यथा तमिल, कन्नड़ एवं मराठी की अनेक कृतियों का हिन्दी भाषा में और हिन्दी की कृतियों का दक्षिण भारतीय भाषाओं में अनुवाद किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने संस्कृत, प्राकृत, गुजराती, बंगाली, कन्नड़ एवं हिन्दी भाषा में मौलिक साहित्य का सृजन एवं सम्पादन किया है। वास्तव में आचार्यरत्न जी इस काव्य के नायक चक्रवर्ती भरत की भांति राष्ट्र में रागात्मक एकता को स्थापित करने में निरन्तर संलग्न रहे हैं। इसीलिए उन्होंने आत्मसाधना के साथ-साथ भारतीय भाषाओं एवं साहित्य की अपूर्व सेवा का कीर्तिमान स्थापित कर विभिन्न भाषा-भाषियों में सद्भाव के अमर सूत्रों को पिरोया है।

साहित्यपुरुष आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी आज आयु की दृष्टि से एक बड़ी उम्र में पहुंच गए हैं। नेत्ररोग, मधुमेह एवं वृद्धावस्था-जन्य अन्य बीमारियों से ग्रस्त होने पर भी वे साहित्य-सेवा में निरन्तर संलग्न हैं। उनके गौरवमंडित मुखारविन्द से इस महाकाव्य के अनेक सरस पद आज भी स्वयं प्रस्फुटित हो उठते हैं। भरतेश वैभव के पद्यों का काव्यपाठ करते हुए उनके मुखमंडल पर जो सात्विक तेज प्रकट होता है, उससे *यह आभास मिलता है कि मुक्ति के लिए आकुल उनकी आत्मा योगीराज भरत की वैराग्य अनुभूतियों से तादात्म्य* स्थापित करने को कितनी व्याकुल है? भरतेश वैभव का सार वास्तव में भारतीय आत्मा का अपराजेय स्वर है। यह महाकाव्य जीवन में सुखों के उपभोग, युद्धभूमि में शौर्य के प्रदर्शन, कला क्षेत्र में हृदय की विशालता, सम्पन्नता में विनय और दान एवं चिन्तन के क्षणों में वैराग्य का सन्देश देता है। यह कृति इन्द्रियजन्य सुखों अथवा सांसारिक विषयों पर मन के नियन्त्रण की गौरवगाथा है। इसीलिए आचार्यरत्न जी का पवित्र मन इसी ग्रन्थ में निरन्तर रमा रहता है। वास्तव में यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि इसी ग्रन्थ के कथासार से आचार्यरत्न जी ने अपना जीवनदर्शन निर्धारित किया है अथवा उनका जीवन-दर्शन इसी ग्रन्थ के आदर्शों से साकार हो उठा है।

भरतेश वैभव का कथानायक सम्राट् भरत जैन धर्म के आद्य तीर्थंकर भगवान् श्री ऋषभदेव (वृषभदेव) का ज्येष्ठ पुत्र है। भगवान् श्री वृषभदेव को वैदिक विचारधारा और पश्चात्वर्ती पौराणिक धर्मग्रन्थ यथा श्रीमद्भागवत, महाभारत, शिवपुराण, ब्रह्माण्ड पुराण के साथ-साथ बौद्धधर्म ग्रंथ धम्मपद एवं आर्यमन्जु ने भी श्रद्धा के साथ स्मरण किया है। इस मेधावी राजकुमार ने पुराण पुरुषोत्तम, कल्पवृक्ष तुल्य जगत्गुरु एवं युग के आदि में सभी प्रकार के ज्ञान-विज्ञान के प्रदाता एवं मानवीय व्यवस्था के नियामक अपने पिता श्री वृषभदेव के चरणों में विद्याभ्यास कर जीवन को पवित्र एवं गरिमामय बनाया था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुख एवं वैभव में जन्म लेने के उपरान्त भी इस राजकुमार ने अपने विक्रम, पौरुष एवं धर्ममय आचरण द्वारा तीनों लोकों में असाधारण लोकप्रियता अर्जित की थी। यह धर्मज्ञ सम्राट् विद्याओं का अनुरागी, प्रजा का पुत्रसम पालन करने वाला एवं धर्म की नीतियों का संरक्षक था। सम्राट् भरत ने धर्म एवं आत्मा के रहस्यों को वास्तविक रूप से जानने के लिए अपने जीवन को साधनापथ में लगा दिया था। एक आचारवान् श्रावक की तरह वह अपना समय धार्मिक क्रियाओं यथा देवपूजा, स्वाध्याय, मुनियों के सत्संग एवं आहारदान इत्यादि में व्यतीत करता था।

श्री चन्द्रगति एवं श्री आदित्यगति नामक मुनियों को आहार के निमित्त पड़गाह कर वह सहज मन से भक्ति रस में प्लावित होकर श्रद्धाभाव से विनयपूर्वक कह उठता है —

अदकल्ल स्वामि गलिर नोडि नाविष्प। सदनवेल्ल वु डोंकु नम्मा॥
हृदय विन्नेष्टु डोंको नीवु वल्लि रें। देवेंगिपुदोरि नडिदन॥
मने डोंकु मनसु डोंकादरु निम्म शि। ष्यन मेलन प्रीतियिंद॥
जिन कल्परिर विजय गैदि रिन्नेन्द। मनमनेगलु नेरवेंदा॥

अर्थात् महाराज मेरा तो सदन (घर) टेढ़ा है, स्वयं शरीर भी टेढ़ा है, न मालूम हृदय भी कितना टेढ़ा है, इसको आप ही जान सकते हैं। घर, शरीर, हृदय के टेढ़े होने पर भी शिष्य के ऊपर प्रेम होने से आप मेरे सदन में पधारे हैं। अतएव पूर्ण आशा है कि आपके अनुग्रह से अब वस्तुएं सीधी हो जायेंगी, इसमें किंचित्मात्र भी सन्देह नहीं है।

चक्रवर्ती भरत को श्रद्धापूर्वक आहार दान देते हुए देखकर स्वर्ग के वैभवशाली एवं समर्थ इन्द्रों ने यह अनुभव किया कि मनुष्य पर्याय श्रेष्ठतम है। मनुष्य जन्म लेकर ही इन्द्रियों का निग्रह, कर्मों की निर्जरा, आत्मिक विकास एवं मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है। जैन धर्म में निर्धारित चारों गतियों में से मनुष्य जन्म को श्रेष्ठतम उपलब्धि माना गया है। मनुष्य रूप में पुण्य के भावों के साथ आत्मचिंतन, पुरुषार्थ, स्व एवं पर के भेद का ज्ञान एवं धार्मिक अनुष्ठान एवं मुनियों को आहार दान इत्यादि का अवसर प्राप्त होता है। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने मनुष्य पर्याय के महत्त्व को आत्मसात् कर अपने जीवन को श्री जिनेन्द्र देव के शासन में समर्पित कर दिया है। महाकवि रत्नाकर वर्णी की अनुसन्धान यात्रा में अपने को सम्मिलित करते हुए वह सहज मन से कह उठते हैं—

तनु जिन गृहवेंदुमन सिंहगीठ वें। दनुपमात्मने जिननेंदु॥
नेनहवेल्लव विट्टू, कण्मुच्चि नोलपाग। जिननाथ तोरुव नोलगे॥

अर्थात् यह शरीर जिन मन्दिर है और मन उसका सिंहासन है। निर्मल आत्मा 'जिन' भगवान् है। बाहर के सभी विकल्प छोड़कर आंख बन्द कर इस प्रकार अपने अन्दर देखे तो सचमुच ही 'जिन' अपने ही में प्राप्त होंगे अर्थात् अपने ही भीतर दर्शन देंगे।

आत्मस्थ श्री देशभूषण जी महाराज मनुष्य पर्याय को मोक्षमार्ग का सोपान मानकर एक आचार्य के रूप में श्रावकों के कल्याण एवं मार्गदर्शन हेतु इस प्रकार के समर्थ अनुवाद एवं साहित्य का प्रणयन करते रहे हैं। आचार्य श्री देशभूषण जी ने ग्रन्थ के आरम्भ में स्वयं ही कहा है, "प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य है कि वह निज धर्म (आत्म धर्म) को न भूले और उसे उज्ज्वल बनाने का प्रयत्न करे क्योंकि मनुष्य भव बार-बार नहीं मिलता। इस ग्रन्थ को सब पाठक विनयपूर्वक मनन करें जिससे ज्ञान ज्योति प्रकट हो ऐसा हमारा आशीर्वाद है।" श्रावक समाज के हाथ में आत्मोद्धार की भावना से भरतेश वैभव का अमृतकलश देते हुए और स्वर्ग के वैभव को भी भरत के आहारदान के अवसर पर हेय बताकर वास्तव में वह सुप्त मानवता में आत्मविश्वास के मन्त्र का शंखनाद करना चाहते हैं :—

व्रतदिंद तपदिंद तानदिंदी स्वर्ग। गतिय पडेदे वहुदिल्लि॥
व्रतविल्ल तपसिल्ल दानविल्लल्ले भूमि। पति निन्न सिरिगेणेयुंटे॥

अर्थात् स्वर्ग के देवगण राजा भरत से कह रहे हैं कि व्रत, तप और दान से इस देवत्व को हमने प्राप्त किया है किन्तु यहां व्रत, तप और दान देने की योग्यता हममें नहीं है। अतः हे राजन! आपकी अपेक्षा हमें ऐश्वर्य और स्वर्गीय भोग सब कुछ प्राप्त होते हुए भी क्या आपके समान आहारदान देने का सौभाग्य हमें प्राप्त है? कदापि नहीं।

आचार्य श्री अपने बाल्यकाल में ही माता-पिता की स्नेहिल छाया से वंचित हो गए थे किन्तु पूर्व संस्कारों के कारण उनके मन में साधु-सन्तों की सेवा-सुश्रुषा का कोमल भाव विद्यमान था। मुनिराज श्री पायसागर जी महाराज के पावन संस्पर्श से आप में श्रावकों के आचार-शास्त्र के पालन का भाव जाग्रत हो गया था। एक किसान के स्वावलम्बी पुत्र होने के कारण आपका सामाजिक चिन्तन प्रखर हो उठा। आपने अपनी आय को परोपकार एवं मुनि-भक्ति के कार्यों में नियोजित करना प्रारम्भ कर दिया था। आपकी यह मान्यता रही है कि मनुष्य को अपनी आय के साधनों में नैतिक उपायों का आश्रय लेना चाहिए। नीतिहीन धन-संचय एवं दान को आपने महत्त्व नहीं दिया क्योंकि अपवित्र साधनों से अर्जित राशि का अन्न शरीर में जाकर दोष उत्पन्न करता है। भरतेश वैभव से एकाकर होकर आपका मन भी सहज रूप से कह उठता है :—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तन्मात्म गुरे ब्रह्मवेसरुंटा ब्रह्मदु। त्पन्न दन्नवे ब्राह्मणान्न ।।
भिन्नार्थं दोलगाद सुखवे शूद्रन्नवें। बुन्नतनेंदु सिक्कुवनो ।।

आत्मा का नाम ही ब्रह्म है। इसलिए निजात्म गुरु ही ब्राह्मण है। उसी ब्रह्म से उत्पन्न हुआ अन्न ब्राह्मण अन्न कहलाता है। भिन्नार्थ सुख को उत्पन्न करने वाला अन्न ही शूद्रान्न है। इस प्रकार से दोनों अन्नों को भिन्न-भिन्न मानकर भिन्न-भिन्न रूप से अर्पण करने वाले मुनि को अन्न दान देने वाले श्रावक धन्य नहीं हैं क्या ? अवश्य ही हैं।

मुनियों में वैराग्य और मुक्ति की भावना को वृद्धिगत करने वाला परिश्रम से अर्जित सात्त्विक अन्न ही साधु की तपश्चर्या में सहायक होता है और आहारदान देने वाले श्रावक एवं आहार दान लेने वाले मुनि दोनों को ही कृतार्थ कर देता है। आचार्यरत्न जी २०-२१ वर्ष की उम्र में अकेले दक्षिण भारत से श्री सम्मेदशिखर जी की संघयात्रा में साधुओं को आहारदान देकर और श्री सम्मेदशिखर जी की तलहटी में एक साथ पांच मुनियों को पड़गाह कर अपने को धन्य समझते थे और आज भी श्रद्धा से प्राप्त आहारदान को ग्रहण कर अपने को कृतार्थ मानते हैं। वास्तव में आहारदान ही एक ऐसी प्रक्रिया है जिसने साधु एवं श्रावक के संबंधों को शताब्दियों से जोड़ रखा है। अपनी साधना के चरम सोपानों को प्राप्त करने के लिए महामुनियों को भी शरीर की स्थिति को कायम रखने के लिए श्रावकों का आश्रय लेना पड़ता है। यही क्षण किसी भी श्रावक के जीवन के स्वर्णिम एवं प्रेरणादायी क्षण होते हैं। आचार्य श्री ने एक श्रावक एवं साधु के रूप में इन क्षणों को भोगा है।

सम्राट् भरत ने अपनी दूरदर्शिता से यह अनुभव किया कि धर्म के शासन की स्थापना के लिए सम्पूर्ण पृथ्वी मण्डल को एक ध्वज के नीचे संगठित करना चाहिए। राजतन्त्र की सुख-सुविधाओं को त्यागकर उसने भारतीय इतिहास में सम्पूर्ण पृथ्वी मण्डल को एक शासन के अन्तर्गत लाने का सर्वप्रथम विजय अभियान किया। अपने इस विजय अभियान में उसने पृथ्वी के समस्त राजाओं को विजित कर चक्रवर्ती सम्राट् का विरुद ग्रहण किया। उसकी इस विजयगाथा के कारण ही उसके नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ गया। विजय अभियान में उसका मानवोचित उदार दृष्टिकोण देखकर अधिकांश राजा स्वयं ही गौरवानुभूति करते हुए उसकी शरण में पहुंच गए। उसके विजय अभियान में शालीनता एवं मानवीय गरिमा थी। अतः पराजित अथवा शरण में आए हुए राजाओं को भी ग्लानि का अनुभव नहीं हुआ।

सम्राट् भरत ने अपने विजय अभियान का प्रयोजन बताते हुए विजित माग.ग्रामर से कहा था—

अडिगेर सिकोंब तेज ओंदल्लदे। वोडवेयासेये चक्रधरगे ।।
ओडनिद्द नृपरेल्ल तलेद्दगु वंतत्र। गुड्डगोरे यित्तु मन्निसिदा ।।

अर्थात् चक्रवर्ती राजा केवल यही अभिलाषा रखते हैं कि अन्य राजसमूह आकर हमारे चरणों में मस्तक नवावें। शेष धनधान्यादि से प्रयोजन नहीं रखते। उपस्थित राजागण आश्चर्य में पड़े इस निमित्त से उन लोगों के सामने ही भरत ने यथेष्ट सत्कार मागधामर का किया।

मागधामर द्वारा आत्मसमर्पण एवं विनय भाव दिखाने पर भारतीय संस्कृति के दिशानिर्धारक सम्राट् स्वयं ही कह उठे—

होगु निन्नय नाल्लिनवन करेदु कोंडु। सागर दोलगे तेप्पिगरु।
आगले संदितेन्नोलग वेंदनु। मागधेंद्रगे राय मेच्चि ।।

अर्थात् भरत जी मागधामर पर संतुष्ट होकर कहने लगे कि मागध जाओ, अनेक राजाओं को वश में करके आनन्दपूर्वक रहो। मेरा कार्य तो उसी दिन हो गया। अब तुम स्वतंत्र होकर रह सकते हो।

इस प्रकार के गौरवशाली विजय अभियान में कौन विजेता और कौन विजित ? दोनों ही अपने को धन्य अनुभव करते हैं। इस प्रकार की राजनीति को भारतीय इतिहास में आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी के प्रेरक महापुरुष सम्राट् भरत ने स्थापित किया था।

सम्राट् भरत दिग्विजय अभियान में एक रणप्रिय योद्धा के परिवेश में रहकर भी अपने दैनिक, धार्मिक, सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन के प्रति सजग थे। चक्रवर्ती राजा के रूप में सम्पूर्ण पृथ्वी मंडल को धर्मशासन के अन्तर्गत संगठित करने की भावना से दर्पी राजाओं के मानमर्दन एवं आश्रित राजाओं को पुरस्कार इत्यादि से उन्हें पुरस्कृत करना पड़ता है। विजय अभियान की अबाध गति, सैनिकों की मनस्थिति और साथ में चल रहे परिवारजनों की सुख-सुविधा का भी उन्हें ध्यान रखना पड़ता था। दिग्विजय अभियान की सांस्कृतिक गरिमा को स्थापित करने के लिए उन्होंने एक आदर्श संहिता का निर्माण किया था। विजित राज्यों के नागरिकों की भावनाओं और उनकी संस्कृति का संरक्षण कर वह जन-जन की भावनाओं के समादरणीय बन गए थे। इसीलिए जनसामान्य ने श्रद्धा से अभिभूत होकर उनके नाम 'भरत' के नाम से अपने देश का नाम 'भारत' रख दिया। कहना न होगा कि आचार्य रत्न श्री देशभूषण जी महाराज भी यथानाम तथागुण के न्याय से समग्र भारत के 'देशभूषण' हैं और शब्दान्तर से 'भारतभूषण' भी। आज सारे देश को ऐसे भारतभूषण आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज पर महान् गर्व है। उनके पावन व्यक्तित्व के समक्ष प्रत्येक जनमानस का मस्तक स्वयमेव श्रद्धा से नत हो जाता है।

लेखक को आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने यह बताया था कि भगवान् वृषभदेव ने अपने अग्रज पुत्र का नाम भरत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसलिए रखा था क्योंकि उसमें समस्त पृथ्वी मंडल के प्राणियों के भरण-पोषण की क्षमता थी। इस देश को 'भारतवर्ष' का रूप देने वाला सम्राट् भरत वास्तव में एक असाधारण पुरुष था। वह दिव्य गुणों का पुंजीभूत रूप था। समग्र मानवता का प्रतीक था। वह इस महान् देश की सांस्कृतिक आत्मा का प्रतिनिधि था। वह शक्तिसम्पन्नता एवं विकास की एक अमर गाथा था। वह चक्रवर्ती सम्राट् था और चक्रवर्ती सम्पदा के अपरिमित वैभव का स्वामी था। चक्रवर्ती राजा के रूप में वैभव का उपभोग करने की उसमें अद्वितीय क्षमता थी। वह सुहृदय कवि एवं ललित विद्याओं का निष्णात पंडित था। अतः गृहस्थाश्रम में रहते हुए उसने धार्मिक रीतियों के निर्वाह के साथ-साथ कलाओं को कृतार्थ करने के लिए जीवन का भरपूर आनन्द लिया। भारतीय नारी के आदर्श गुणों की प्रतीक रानी कुसमा जी के हाथ से सुस्वादु रसपूर्ण भोजन ग्रहण करने, राजप्रासाद के रत्नजटित खंड में नारी कुसमा जी के मन को विभोर कर देने वाले नृत्य का अवलोकन करने, स्नेह के दीपक को प्रज्ज्वलित कर ताम्बूलपत्रों के सौहार्दपूर्ण आदान-प्रदान करने और शरीर को सांसारिक सुखों के सिन्धु में निमग्न करने के उपरान्त चेतना के लौटने पर चक्रवर्ती भरत का विरक्त मन शरीर की परिधियों को भेदकर अन्ततोगत्वा आत्मरस में ही आनन्दानुभूति का अनुभव करता था।

नन्नात्म वेरेंब वेरेंदु कण्मुच्चि। तन्न तानोलगे निट्टिसुत ।।
मन्नेय रोडेय निरलु कूडे कविदुदु। अन्न सौविकन नसुनिद्रे ।।

अर्थात् श्री भरतेश जी शयन करते हुए आंख बन्द कर के विचार करने लगे कि मेरी आत्मा क्षुधा से पीड़ित नहीं है। यह सब कुछ शरीर के लिए करना आवश्यक है। इस प्रकार विचार मग्न होते हुए भी अन्न की उष्णता से उन्हें निद्रा आ गई।

सम्राट् भरत भक्ति एवं अध्यात्म का युगद्रष्टा महापुरुष था। युद्धभूमि के कोलाहलमय वातावरण में भी वह निर्माण के गीत गाता था। अपने पुत्र अर्ककीर्तिकुमार को प्यार से गोद में लेकर मनोविनोद में सम्राट् भरत निम्नलिखित शब्दों का उच्चारण करवा रहे थे 'आदि तीर्थंकर', 'चिदम्बर पुरुष' एवं 'निरजंन सिद्ध'। बालक तुतलाहट में कह रहा था 'आदिकर', 'चिबएपूस' एवं 'निज सिद्ध'। पारिवारिक परिवेश में संस्कारों का निर्माण करते हुए अर्ककीर्तिकुमार की तुतलाहट का जो रसास्वाद राजा भरत ने किया था, वह शब्दों की सीमाओं में निबद्ध नहीं किया जा सकता। इस लौकिक एवं अलौकिक आनन्द को अनुभव करने के लिए राष्ट्र को आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी जैसे साहित्य मनीषी की निरंतर अपेक्षा रहेगी।

सम्राट् भरत इस सनातन राष्ट्र की सांस्कृतिक सम्पदा—आत्म-वैभव के सिद्ध पुरुष थे। इसीलिए अनुश्रुतियों में उन्हें 'राजा योगी' के नाम से सम्बोधित किया जाता रहा है। भेद विज्ञान द्वारा उन्होंने आत्मा एवं पुद्गल के पार्थक्य का अल्पवय में ही परिज्ञान कर लिया था। अतः एक कुशल शासक होते हुए भी उनका हृदय सन्त समागम के लिए आकुल रहता था। इन्द्रियजन्य सुखों का उपभोग करते हुए उनका आन्तरिक मन सांसारिकता से सर्वथा विरक्त था। सम्राट् भरत की सांसारिक भोगों के प्रति अरुचि को तत्कालीन समाज ने भी अनुभव किया था। इसीलिए उस युग के प्रमुख कवि दिविज कलाधर ने सम्राट् भरत का कीर्तिगान करते हुए कहा था—

होरगेल्लव तोरेदोल्लगे निर्मलवागि। मेरेववरुंटु लोकदोलु ।।
होरगेल्ल विट्टोलगेनु विल्लेने बच्च। वरिदादरारु निन्नंते ।।

अर्थात् हे राजन्! लोक में ऐसे बहुत-से योगी होंगे जो सम्पूर्ण भोग का त्याग कर अन्तरंग में निर्मल आत्मा का दर्शन करते हैं परन्तु अतुल ऐश्वर्य रखते हुए भी अंतरंग में अकिंचन तुल्य निर्मोही होकर आत्मानुभव करने वाले आप सरीखे कितने हैं।

निर्मल आत्मा को ही समयसार स्वीकृत करने के कारण सम्राट् भरत धर्म का ही मूर्तिमान विग्रह हो गया था। चक्रवर्ती के रूप में ९६ हजार रानियों से सेवित होने पर भी वह भोगविमुख था और जीवन की क्षणभंगुरता से परिचित होने के कारण भोगों को संसार चक्र का कारण मानता था—

धर्म दिंदादुदु सिरियेंदु सुखिसुत्त। धर्मव मरेयरुत्तमरु ।।
धर्म वंतरदेंदु भोग के मरुलागि। कर्मिगला चरिसुवरु ।।

अर्थात् संपत्ति धर्म से ही प्राप्त होती है ऐसा निश्चय कर हमेशा धर्म में उत्सुक रहने वाला पुरुष धन्य है। किसका धर्म, कैसा धर्म ऐसा ही कहकर भोग में ही रत होकर धर्म को तिरस्कृत करने वाले मूर्ख लोग सतत संसार रूपी समुद्र में मग्न होकर दुःख रूपी समुद्र में गोता खाते रहते हैं।

एक प्रशासक के दायित्वों का निर्वाह करते हुए भी उसकी दृष्टि संसारचक्र के बन्धनों से मुक्त होने के लिए निरन्तर आतुर रहती थी। महाकवि रत्नाकर वर्णी ने उसके मनोभावों का चित्रण करते हुए कहा है—

गाण मद्दले ताललयके नतिप मद। यानेगे शिरद कुंभदोलु ।।
ध्यान विप्पंते ध्यानदोलिर्दु मुवित सं। धानदोलगे निन्ननेनुह् ।।

अर्थात् जिस प्रकार एक नर्तकी अपने मस्तक पर घड़े को रखकर नृत्य कर रही हो और नृत्य करते समय गायन ताल लय आदि को भंग न होने देकर—ये सब बातें होते हुए भी उसकी मुख की दृष्टि इसी पर केन्द्रित रहती है कि मस्तक पर रखा हुआ घड़ा गिर न पड़े,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार हे राजन् समस्त राज-योग को सम्हालते हुए भी आपकी मुख की दृष्टि मोक्ष मार्ग की ओर है।

सम्राट् भरत की दृष्टि धर्मशासन की स्थापना के साथ-साथ मोक्षसुख की आकांक्षा की ओर भी केन्द्रित थी। उसकी साधना इतने उत्कर्ष पर पहुंच गई थी कि राजा भरत एवं योगी भरत में भेद करना भी जनसामान्य के लिए कठिन था—

घरियोलेल्लव सुट्टुरुटल्लि भस्म क। पुर्र व सुट्टरे भस्म बुंटे॥
नरतलि गाहारनिहारबुंटेम्म। भरतेशगिल्ल निहारा॥

अर्थात् जैसे संसार में सभी पदार्थ जलाने से उसका भस्म तैयार होता है, परन्तु कपूर जलाने से कभी उसका भस्म तैयार होता है? उसी प्रकार सभी मनुष्यों को आहार और निहार प्रायः दोनों ही देखने में आते हैं। परन्तु राजा भरत में आहार तो है लेकिन निहार नहीं है। क्या यह अलौकिक व्यक्ति नहीं है।

इसी आदर्श स्थिति के कारण चक्रवर्ती भरत का आत्मतेज इस देश के कण-कण में व्याप्त हो गया है। सम्राट् भरत की वैराग्यजन्य आत्मसाधना इतनी प्रखर हो गई थी कि महाकवि रत्नाकर वर्णी भावविह्वल होकर कह उठे—

मुरिदु कण्णिट्टरे क्षणके मुक्तिय कांब। भरत चक्रिय हैललवने॥

अर्थात् वह क्षणमात्र में दृष्टि बन्द कर मोक्ष को प्राप्त करने वाले उन चक्रवर्ती भरत का मैं क्या वर्णन करूं।

मोक्षमार्ग के अद्भुत प्रेरक सिद्ध पुरुष श्रीभरत के पावन कथानक का गौरव गान करने में सरस्वती भी अपने को असमर्थ-सा मानती है। इसीलिए आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाकवि रत्नाकर वर्णी की मनःस्थिति के समान ही कह उठते हैं—

हदिनारनेमनु प्रथम चक्रेश्वर। सुदति जनके राजमदन॥
चदुरर तलेवणि तद्भवमोक्षासं। पवन वाण्णिस लैन्न हवणे॥

अर्थात् सोलहवें मनु, प्रथम चक्रवर्ती, अन्तःपुरवासिनियों के लिए कामदेव, विवेकियों के चूड़ामणि एवम् तद्भव मोक्षगामी भरत का वर्णन करने में मैं कहां तक समर्थ हो सकता हूं।

आत्मसाधना में प्रवृत्त आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने भोगविजय, दिग्विजय, योगविजय, मोक्षविजय एवं अर्ककीर्ति-विजय नामक पांच कल्याणों में विभक्त, चौरासी संधियों और चौरासी प्रकरणों में गुम्फित एवं दस हजार से भी अधिक पद्यों वाली इस रचना को अपनी काव्यसाधना का विषय क्यों बनाया? इसका उत्तर आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी द्वारा ग्रन्थ के प्रारंभ में किए गए मंगलाचरण से स्वयं मिल जाता है:—

भरतभूप का यह यशोगान। यह है तद्भव मोक्ष जान।
कटे कर्मभव भव के महान्। आदिपुत्र सम मिले आत्मज्ञान॥
मिल जाए मुक्ति पद मन में ठान। करूँ आरम्भ कथा सुन लगा ध्यान।
यह है भरतेशवैभव महान्। भविजन को तारण तरणहि जान॥"

यह सत्य है कि इस काव्य के प्रतिपाद्य विषय भोगों से मुक्ति की तरफ ले जाने वाले हैं और पापकर्मों को नष्ट कर सनातन सुख की अनुभूति कराने वाले हैं। इस सनातन सुख से साक्षात्कार करने के लिए ही आचार्यरत्न जी ने दिगम्बर परिवेश ग्रहण किया है और एक लम्बे कालखंड से वह दिगम्बर सन्त के रूप में आत्मानुसंधान में निरन्तर संलग्न हैं।

प्रायः जैन धर्म से सम्बन्धित साधु-समाज पर यह आरोप लगाया जाता है कि वह वैराग्यमूलक निवृत्तिप्रधान धर्म का पालन करते हुए संसार से सर्वथा विरक्त रहते हैं। भरतेश वैभव का कथासार मनुष्य में ब्रह्मविद्या की रुचि तो उत्पन्न करता है किन्तु वह पलायनवादी दृष्टिकोण से सर्वथा दूर है। आचार्य श्री मानव समाज को अपने ज्ञानानुभव द्वारा पिछली पाँच दशाब्दियों से आस्था एवं रचना का उपदेश देते रहे हैं। जैन धर्म के आचार ग्रंथों में इस तथ्य पर बल दिया गया है कि साधु को श्रावक से भेंटवार्ता करते हुए सर्वप्रथम श्रावक को मुनि बनने की प्रेरणा एवं आशीर्वाद देना चाहिए।

आचार्य श्री देशभूषण जी का दिव्य व्यक्तित्व श्रावक समाज को धर्म पर चलने की प्रेरणा देता है। एक दिगम्बर सन्त के रूप में कठोर तपश्चर्या करते हुए भी वह अपने सामाजिक दायित्व से मुक्त होने के लिए निरन्तर कर्मशील रहते हैं। उनके गौरवशाली चरित्र में निवृत्ति एवं प्रवृत्ति का मणिकांचन-संयोग है। इन्द्रियों को संयमित करने के लिए वह कठोर तप के साथ-साथ अद्भुत व्रतविधान भी करते रहे हैं। कोल्हापुर के प्रारंभिक चातुर्मासों में उन्होंने सर्वतोभद्रव्रत, महासर्वतोभद्रव्रत, बसन्तभद्रव्रत, त्रिलोकसार-व्रत, ब्रजमध्य विधि व्रत, मृदंगमध्यविधि व्रत, मुरजमध्य-विधि व्रत, मुक्तावली-व्रत एवं रत्नावली-व्रत का विधान करते हुए ६०४ दिनों में ४७१ उपवासों को करते हुए १३३ पारणाएं की थीं। साधना काल एवं उपवासों में भी वह निरंतर कर्मरत रहते हैं। मूलाचार में साधु के लिए नियत नियमावली का पालन करते हुए वह शास्त्राभ्यास में संलग्न रहते हैं। कठोर नियमावली का पालन करते हुए भी उनके मन में सन्त हृदय की कोमलता एवं करुणा प्रायः साकार हो उठती है। अतः श्रावक समाज के उद्धार एवं धर्म के उन्नयन की भावना से वह साहित्य के प्रणयन वीतराग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विज्ञान के केन्द्र श्री जिन मन्दिरों के निर्माण एवं तीर्थ क्षेत्रों की संरचना एवं विकास में स्वयं कर्मरत हो जाते हैं। वास्तव में इस प्रकार का कर्म आचार्य श्री की प्रवृत्तिमार्गी विचारधारा का प्रतिफल है। उनके कर्मप्रधान पौरुष से राष्ट्रीय एकता को बल मिला है और जैन धर्मानुयायियों में अभूतपूर्व आत्मविश्वास जागृत हुआ है। एक सन्त के रूप में साधना करते हुए चक्रवर्ती भरत के आत्मवैभव से गौरवमंडित होते हुए उन्होंने शताधिक महत्त्वपूर्ण धर्मग्रंथों का अनुवाद, प्रणयन एवं सम्पादन कर एक कीर्तिमान स्थापित किया है। एक श्रमणराज के रूप में प्रायः भारत के सभी प्रमुख खंडों में विचरण करते हुए उन्होंने विशाल मन्दिरों के निर्माण से आत्म साधना के केन्द्रों को विकसित करते हुए लोकोपकार के लिए धर्मशालाओं, औषधालयों, पुस्तकालयों, विद्यालयों इत्यादि का निर्माण कराकर जैन धर्म की उदार एवं लोकोपकारी चेतना को साकार रूप प्रदान किया है।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी का प्रेरणास्रोत चक्रवर्ती भरत का पावन चरित्र रहा है। इसीलिए उनका कथन है—

हसिवु तृषेयु निद्रे मोदलाद दुःखव । हसे गेडिसुव शक्तियुल्ल् ।।
असमवैभवने नन्नेदे योलगिरु मोक्ष। रसिक चिदंबर पुरुषा ।।

अर्थात् भूख, प्यास, निद्रा इत्यादि दुःखों का नाश करने की शक्ति को धारण करने वाले असीम पुण्य वैभवशाली मोक्ष रसिक, हे चिदंबर पुरुष, सिद्ध परमात्मन् ! मेरे हृदय में हमेशा रहकर मेरी रक्षा करो !

ग्रन्थ के समापन पर आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज भव्य जीवों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे भव्य जीवो ! यदि आप लोग शरीर व आत्मा को अभेद जानकर परमात्मा का चिंतन करते रहोगे तो आप लोग भी भरत जी के समान इस लोक व परलोक के सुख को भोगकर अन्त में मोक्ष की प्राप्ति कर सकोगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org